प्रकाशित: 28 अप्रैल 2018 को दैनिक जागरण में प्रकाशित-

छल-कपट भरे एजेंडे की अनदेखी

शंकर शरण

फर्जी खबरें यानी फेक न्यूज देने के विरुद्ध सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय की पहलकदमी उठते ही दब गई। कुछ लोगों ने इसे उचित भी बताया। यह बात और है कि तमाम लोग यह भी मानते हैं कि मीडिया के एक हिस्से में मनगढ़ंत , जाली, विकृत और प्रायोजित समाचारों की संख्या बढ़ रही है। यह केवल सोशल मीडिया तक सीमित नहीं है। परंपरागत मीडिया भी इसकी चपेट में आता दिख रहा है। हाल का एक उदाहरण देखें। बीते दिनों एक बड़े अंग्रेजी अखबार ने समाचार छपा, 'सोशल मीडिया पर फोटो शेयर करने वाले युवक की गिरफ्तारी।'

खबर में इस बात को चतुराई से छिपा लिया गया कि वह फोटो क्या थी, कैसी थी? दरअसल उस युवक ने एक मंदिर में शिवलिंग पर जूते सहित अपना पैर रखकर सेल्फी ली थी , जिसे सोशल मीडिया में डालने पर किसी ने पुलिस में शिकायत की और जाहिर है कि पुलिस ने उसे गिरफ्तार किया। अखबार ने जानबूझकर ऐसी हेडलाइन शायद इसीलिए बनाई , क्योंकि यही रंगत विदेशियों के लिए उस समाचार को सनसनीखेज बनाती। वस्तुत: जाति, धर्म, मजहब और पार्टी से जुड़े समाचारों में अधिकांश मीडिया का विषम व्यवहार रोजमर्रे की बात हो गई है। अनेक पत्रकार एक विशेष समूह को उत्पीड़क और दूसरे को उत्पीड़ित बताने का अघोषित लक्ष्य रखते हैं। कुछ के लिए यही स्थिति राजनीतिक पार्टियों और संगठनों के प्रति भी है। इसके लिए खबरों को आधे-अधूरे ढंग से प्रस्तुत करना , तोड़ना-मरोड़ना, कभी उत्पीड़क तो कभी उत्पीड़ित की पहचान छिपाना अथवा खूब प्रमुखता देकर छापना आदि इसके साधन रहे हैं।

यदि निष्पक्षता से जांच हो तो यह सब नि:संदेह विकृत समाचार देने केउदाहरण हैं। गोधरा कांड केबाद तो करीब 12 वर्षों तक लगातार यह सब उत्साहपूर्वक चलता रहा। अब इसे सभी कमोबेश स्वीकारते भी हैं, लेकिन वह पूरी तरह बंद नहीं हुआ है, जो ऊपर के उदाहरण से देखा जा सकता है। प्रश्न है कि समाज में जातिगत , धर्मगत और पार्टीगत पक्षपात या वैमनस्य फैलाने के दुष्परिणामों पर क्या विचार नहीं करना चाहिए ? आतंकवाद संबंधी कई घटनाओं की जांच-पड़ताल में यह सामने आया है कि झूठे या विकृत समाचारों का किशोरों , नवयुवकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वे उस घटना का बदला लेने की प्रवृत्ति से भर उठते हैं , जिसे अतिरंजित या गलत रूप से प्रसारित किया गया होता है। इन सबके अलावा , विदेशियों के प्रलोभन से नकली

और प्रायोजित समाचारों से भी हमारे देश की भारी हानि होती रही है। इसका भयावह प्रमाण सोवियत गुप्तचर एजेंसी केजीबी के अभिलेखागार के पूर्व- कर्मचारी वसीली मित्रोखिन के दस्तावजों से सामने आया था। उसकी चर्चा हमारे राजनीतिक , बौद्धिक वर्ग ने न के बराबर की , इससे भी उस रहस्य का संकेत मिलता है जो उसमें उजागर किया गया था।

वस्तुत: भारतीय लोग 'मित्रोखिन आर्काइव्स , खंड एक- 1999 और खंड दो- 2005 के प्रकाशन के बाद भी एक गहरी बात से अपरिचित हैं। पुस्तक के पहले खंड के हजार पृष्ठों में यूरोप और अमेरिका में केजीबी के कई एजेंटों और उनके कारनामों का विवरण था जिसके आधार पर उन देशों में अनेक एजेंट और सामग्रियां पकड़ी गईं। मित्रोखिन आर्काइव्स के तमाम विवरणों , घटनाओं, आंकड़ों आदि में एक भी गलती नहीं पाई गई , जिनकी जांच विविध देशों में वहां की सरकारों ने की। उसी पुस्तक के दूसरे खंड में दो अध्याय (पृ. 312-340) भारत में केजीबी के अनेक कामों के बारे में हैं।

जवाहरलाल नेहरू काल से लेकर इसमें लगभग 1989 तक के कुछ छिट-पुट विवरण हैं। अर्थात जो दस्तावेज केजीबी कर्मचारी वसीली मित्रोखिन को मिले थे और जिसे वे नोट कर बाहर ले जा सके थे। इस पुस्तक के पृष्ठ 324 पर भारतीय मीडिया के एक हिस्से का यह रूप भी मिलता है , 'केजीबी की फाइलों के अनुसार इसने 1973 तक भारत के कई अखबारों और एक समाचार एजेंसी को नियमित रूप से पैसे देकर करीब-करीब अपने नियंत्रण में कर लिया था। 1972 के दौरान केजीबी ने भारतीय अखबारों में अपनी ओर से प्रायोजित 3789 सामग्री छपाने का दावा किया। संभवत: किसी गैर-कम्युनिस्ट देश में यह सबसे बड़ी संख्या थी। फाइलों के अनुसार यह संख्या 1973 में गिर कर 2760 हो गई, जो 1974 में बढ़कर 4486 और 1975 में 5510 हो गई। कुछ मुख्य नाटो देशों में केजीबी तुलना में बमुश्किल एक प्रतिशत से कुछ अधिक चीजें प्रकाशित करा पाया था जो उस ने भारतीय प्रेस में करवाया।'

यह केवल एक झलक है। वह भी आज से 40-45 वर्ष पहले की। उन प्रायोजित समाचारों , सामग्रियों, जाली कागजातों के बल पर भारतीय राजनीति के सर्वोच्च स्तर पर निर्णय प्रभावित होने के विवरण भी पुस्तक में हैं। सबसे भयंकर बात यह है कि पुस्तक में 'कानूनी कारणों से' भारत में राजनीतिक, अकादमिक और मीडिया

जगत में ऐसे सैकड़ों केजीबी एजेंटों की पहचान नहीं दी गई जो पहले खंड में यूरोप , अमेरिका में एजेंटों के बारे में छाप दी गई थी। इसका अर्थ यह भी है कि ब्रिटिश और अमेरिकी सरकार को भारत में उन एजेंटों यानी नेताओं, अफसरों, संपादकों, प्रोफेसरों और संस्थानों के नाम गत 15 वर्षों से मालूम हैं, क्योंकि यह पुस्तक ब्रिटिश सरकार की ओर से गहरी छानबीन के बाद ही प्रकाशित हुई थी। इसीलिए पहले खंड में वे नाम भी छपे थे , मगर भारत की जनता आज तक अंधेरे में है कि वे कौन लोग थे जिन्हें केजीबी ने खरीदा हुआ था। कौन जाने वे और वैसे कितने अन्य लोग आज भी सक्रिय हों। कुछ वर्ष पहले राडिया टेपों के उजागर होने के बाद सामने आया था कि हमारे कई बड़े पत्रकार राजनीतिक फिक्सिंग का काम भी करते रहे हैं। यह सब एक दिन में नहीं हुआ हो सकता। किसी व्यक्ति , कंपनी, राजनीतिक पार्टी या विदेशी ताकतों को लाभ पहुंचाने के क्रिया-कलाप एक गंभीर समस्या का संकेत करते हैं।

एक वरिष्ठ पत्रकार-संपादक ने बहुत पहले ही यह चिंता जाहिर की थी कि बुरी खबर और खासकर सरकार को कठघरे में खड़ा करने वाली खबरों के प्रति हमारे तमाम अंग्रेजी संपादकों में ऐसा आकर्षण है कि वे उसकी किसी जांच , प्रमाणिकता की जरूरत तक नहीं समझते। यही हाल रहा तो कुछ दिनों में खबरें गढ़ी जाने लग जाएंगी। सच तो यह है कि कई समाचार गढ़े जाने भी लगे हैं। कई स्टिंग ऑपरेशन वास्तव में गढ़े गए समाचार ही थे। सोशल मीडिया पर फेक न्यूज देने वाली फैक्ट्रियां खड़ी हो गई हैं। अब सोचें कि मनगढंत , जाली, शरारतपूर्ण, राजनीति-प्रेरित, खास एजेंडे से संचालित या फिर विदेशियों का हित साधने वाले वाले समाचारों में सबसे घातक कौन है ? क्या गर्हित उद्देश्यों से ऐसी खबरों , सामग्रियों का धंधा वैसे ही चलता रहना चाहिए? यह समझने के लिए बड़ी बुद्धि की जरूरत नहीं कि समाचारों में अतिरंजित या झूठे आरोपों को हवा देने से आम लोग भ्रमित होते हैं अथवा सामुदायिक दूरी और वैमनस्य बढ़ता है। इसकेपरिणाम कहीं तक जा सकते हैं। इसकी झलकियां कई बार मिल चुकी हैं। मीडिया के समर्थ, स्वाभिमानी लोगों को इस पर गंभीरता से सोचना चाहिए और सरकार को भी कोई सही उपाय निकालने में सहयोग देना चाहिए।

(लेखक राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)